TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182280

UNIVERSAL
LIBRARY

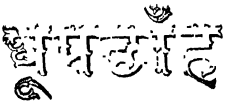

रचयिता

दिनकर

प्राप्ति-स्थान

उदयाचल, पटना

मूल्य १।)

प्रकाशक
उदयाचल, पटना

प्रथम संस्करण, १९४६
द्वितीय संस्करण, १९४९

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक
श्रीमणिशंकर लाल
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना

दो शब्द

'धूपछाँह" की रचना के पीछे कोई विशेष इतिहास नहीं है। गत दस-बारह बरस के अरसे में, समय-समय पर मैंने बच्चों के लिए जो थोड़ी-सी कविताएँ लिखी थीं अथवा जिनका दूसरी भाषाओं से अनुवाद किया था, यह उन्हीं का एक छोटा-सा संग्रह है। अनुवाद प्रायः, सर्वत्र ही स्वच्छन्द हुआ है और, अधिकांश में, उन्हें अनुकरण कहना ही ज्यादा उपयुक्त होगा।

"धूपछाँह" में धूप कम और छाया अधिक है। इस प्रकार, इसकी सोलह कविताओं में से दो ("दो बिघा जमीन" और "पुरातन भृत्य") के मूल-लेखक रवि बाबू, दो ("तन्तुवाय" और "तीन दर्द") की मूल-लेखिका श्रीमती सरोजिनी नायडू और एक ("नींद") के मूल-लेखक गाड्फ्रे नामक एक पाश्चात्य कवि हैं। "बच्चे का तकिया" और "वर-भिक्षा" सत्येन्द्रनाथ दत्त की बंगला से ली गई हैं, मगर, इनके मूल-रचयिता, क्रमशः, मार्सेलिन वाल्मोर और नगूची हैं। "पानी की चाल" नामक रचना भी सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह राबर्ट सदी और अकबर इलाहाबादी के अनुकरण पर लिखी गई है। यहाँ तक कि "कवि का मित्र" नाम्नी रचना भी, जिसने मेरे कितने ही घनिष्ठ मित्रों को

सिर खुजलाते हुए कुछ सोचने को लाचार किया है, मेरी स्वानुभूति नहीं है। स्वर्गीय पद्मसिंहजी शर्मा के द्वारा अनूदित लेख "मुझे मेरे मित्रों से बचाओ" हिन्दी में काफी विख्यात है। इसके सिवा ऐसे चरित्र का वर्णन दो-एक अङ्गरेजी-लेखकों ने भी किया है जिनमें से एक का नाम जान गाड्फ्रे सैक्स है। मैंने जो यह कविता लिखी, वह अपने मित्रों को छेड़ने के लिए नहीं, बल्कि, एक मनोरंजक चरित्र का वर्णन करने के लिए। अतएव, मेरे प्यारे मित्र आश्वस्त हों कि कवि का यह "मित्र" बिलकुल काल्पनिक है। इसी प्रकार "रौशन बे की बहादुरी" का लाट लौंग फेलो की एक कविता से लिया गया है।

मैं इस छोटी-सी पोथी को, विशेषतः उन लोगों के हाथ में देना चाहता हूँ जो अपेक्षाकृत अल्पवयस्क हैं तथा जो सीधी-सादी, हल्की-फुल्की रचनाओं से सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। "वर-भिक्षा" और "तीन दर्द" से उन्हें घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि कुछ-कुछ स्वप्न देखने का उन्हें भी अधिकार है।

पटना
जन्माष्टमी
२००३ वि०

दिनकर

सूची-पत्र

१—शक्ति या सौन्दर्य	३
२—बल या विवेक	७
३—बच्चे का तकिया	१०
४—पानी की चाल	१५
४—कवि का मित्र	२६
६—दो बिघा जमीन	२६
७—तन्तुवाय	३४
८—कैंची और तलवार	३५
६—पुरातन भृत्य	४०
१०—भारतेन्दु-स्मृति	४४
११—वर-भिक्षा	४६
१२—रौशन बे की बहादुरी	४६
१३—नींद	५४
१४—तीन दर्द	५७
१५—पुस्तकालय	५६
१६—कलम और तलवार	६७

श्रीपद्मप्रभवे नमः

शक्ति या सौन्दर्य

तुम रजनी के चाँद बनोगे ?
या दिन के मार्तण्ड प्रखर ?
एक बात है मुझे पूछनी,
फूल बनोगे या पत्थर ?

तेल, फुलेल, क्रीम, कंघी से
नकली रूप सजाओगे ?
या असली सौन्दर्य लहू का
आनन पर चमकाओगे ?

पुष्ट देह, बलवान भुजाएँ,
रूखा चेहरा, लाल मगर,
यह लोगे ? या लोगे पिचके
गाल, सँवारी माँग सुघर ?

जीवन का वन नहीं सजा
जाता कागज के फूलों से,
अच्छा है, दो पाट इसे
जीवित बलवान बबूलों से।

चाहे जितना घाट सजाओ,
लेकिन पानी मरा हुआ,
कभी नहीं होगा निर्झर-सा
स्वस्थ और गति-भरा हुआ।

संचित करो लहू; लोहू है
जलता सूर्य जवानी का
धमनी में इससे बजता है
निर्भय तूर्य जवानी का।

कौन बड़ाई उस नद की
जिसमें न उठी उत्ताल लहर?
आँधी क्या, उनचास हवाएँ
उठी नहीं जो साथ हहर?

सिन्धु नहीं, सर कहो उसे
चंचल जो नहीं तरंगों से,
मुर्दा कहो उसे, जिसका दिल
व्याकुल नहीं उमंगों से।

फूलों की सुन्दरता का
तुमने है बहुत बखान सुना,
तितली के पीछे दौड़े,
भौंरों का भी है गान सुना।

अब खोजो सौन्दर्य गगन-
चुम्बी निर्वाक् पहाड़ों में,
कूद पड़ो जो अभय शिखर से
इन प्रपात की धारों में।

सागर की उत्ताल लहर में,
बलशाली तूफानों में,
प्लावन में किश्ती खेने-
वालों के मस्त तरानों में।

बल, विक्रम, साहस के करतब
पर दुनिया बलि जाती है,
और बात क्या ? स्वयं वीर-
भोग्या वसुधा कहलाती है।

बल के सम्मुख विनत भेंड़-सा
अम्बर सीस झुकाता है,
इससे बढ़ सौन्दर्य दूसरा
तुमको कौन सुहाता है ?

है सौन्दर्य शक्ति का अनुचर,
जो है बली वही सुन्दर;
सुन्दरता निस्सार वस्तु है
हो न साथ में शक्ति अगर।

सिर्फ ताल, सुर, लय से आता
जीवन नहीं तराने में,
निरा साँस का खेल कहो
यदि आग नहीं है गाने में।

—:※:—

बल या विवेक

कहते हैं, दो नौजवान
क्षत्रिय घोड़े दौड़ाते,
ठहरे आकर बादशाह के
पास सलाम बजाते ।

कहा कि, "दें सरकार, हमें भी
घी-आटा खाने को,
और एक मौका अपना कुछ
जौहर दिखलाने को ।"

बादशाह ने कहा, "कौन हो तुम?
क्या काम तुम्हें दें ?"
"हम हैं मर्द बहादुर" झुककर
कहा राजपूतों ने ।

"इसका कौन प्रमाण ?" कहा
ज्यों बादशाह ने हँस के,
घोड़ों को आमने-सामने कर,
वीरों ने कसके—

एँड़ मार दी, और खींच
ली म्यानों से तलवार,
और दिया कर एक दूसरे
की गर्दन पर वार ।

दोनों कटकर ढेर हो गए,
अश्व गए रह खाली,
बादशाह ने चीख मार कर
अपनी आँख छिपा ली !

× × ×

दोनों कट कर ढेर हो गए,
पूरी हुई कहानी,
लोग कहेंगे, "भला हुई
यह भी कोई कुरबानी ?

"हंसी-हंसी में जान गँवा दो,
अच्छा पागलपन है,
ऐसे भी क्या बुद्धिमान कोई
देता गरदन है ?"

मैं कहता हूँ, बुद्धि भीरु है,
बलि से घबराती है,
मगर, वीरता में गरदन
ऐसे ही दी जाती है।

सिर का मोल किया करते हैं
जहाँ चतुर नर ज्ञानी.
वहाँ नहीं गरदन चढ़ती है,
वहाँ नहीं कुरबानी।

जिसके मस्तक के शासन को
लिया हृदय ने मान,
वह कदर्य भी कर सकता है
क्या कोई बलिदान ?

—:-❀-:—

बच्चे का तकिया

(१)

ओ छोटे उपधान! अरे,
क्या भली वस्तु तू भाई!
सिर-नीचे ले तुझे ऊंघना
मुझे बड़ा सुखदाई।

दिल में छिपी खुशी के मारे
फूला औ' उभरा-सा,
तूल-भरा, गुलगुला; मुलायम,
भारी नहीं जरा-सा।

झर-झर झरता मेघ, गरजता
नभ का कोना-कोना,
तुझमें वदन छिपाकर लगता
कितना अच्छा सोना!

(२)

हैं अनेक बच्चे धरती पर
दीन, दुखी, बिललाते,
जिन्हें नहीं घर-द्वार, राह में
जहाँ-तहाँ सो जाते।

सोने को तकिया न उन्हें,
भगवान, हाय, क्या क्लेश ?
भला, लेटने भर से आती
नींद कहीं लवलेश ?

ठिठुर-ठिठुर काटते रजाई-
बिना पूस की रात,
माँ ! उनकी तो व्यथा सोचकर
कम्पित होता गात।

(३)

रोज सबेरे उठकर मैं
कहता हूँ, हे भगवान !
जिन्हें न आती नींद देवता !
दो उनको उपधान।

तब समेट दोनों बाँहों से
तकिया तेरा, अपना,
आँख मूँद देखता दुखी
उन बेचारों का सपना।

छा जाता तेरे आनन पर
माता! मलिन विषाद,
मैं मन-ही-मन तुझे दिया
करता हूँ आशीर्वाद।

(४)

बहुत सबेरे उठ न सकूँगा
माता, मैं कल प्रात,
नील मसहरी में काटूँगा
रजनी और प्रभात।

नील मसहरी के भीतर कल
छि पे - छि पे निः सं ग,
ले टे - ही - ले टे दे खूँ गा
उदय-रश्मि का रंग।

जानें कैसी रात आज,
झपकी न अभी तक आई,
सो जा तू निश्चिन्त, आँख
यदि माँ! तेरी अलसाई।

(५)

हे हरि! हे भगवान! देवता!
हे प्रभु! हे जगदीश!
यह अबोध बालक कहता कुछ
तुम्हें झुका कर शीश।

शिशु की बात सुनो हे केशव!
सकल लोक के स्वामी!
सुन लो मेरी विनय एक,
हे ठाकुर अन्तर्यामी!

सुनता हूँ—माँ-बाप-हीन
बालक हैं बहुत अनाथ,
अब अनाथ मत करो किसी को,
विनय सुनो हे नाथ!

(६)

एक साँझ चुपके भू पर
आने का करो उपाय,
सिसक रहे माँ-बाप-हीन जो
लक्ष-लक्ष शिशु हाय!

गोद बिठा कर उन्हें, प्यार से
कहना मीठी बात,
चूम-चूम कर उन्हें हँसाना,
करना पुलकित गात।

चली गई माँ जिन्हें छोड़,
उनके सिर-तल भगवान,
रजनी-भर सुख से सोने को
देना लघु उपधान।

—:-❀-:—

पानी की चाल

१

सदी नाम के अंग्रेजी-कवि
ने यह यश पाया है,
पानी का बहना कविता में
जिन्दा दिखलाया है!

उस रचना को देख एक दिन
अकबर का मन डोला,
फिर बहाव पर उर्दू की
ताकत को उनने तोला।

बहुत क्रियापद जुटा दिखाया
यह कौशल बानी का,
कैसा चित्र शब्द ले सकता
है बहते पानी का

१—राबर्ट सदी।

बहुत खूब है हुआ महाकवि
अकबर का भी कहना,
पंक्ति-पंक्ति में जिन्दा उतरा
है पानी का बहना।

और आज है मुझे फिक्र यह
मैं भी कलम उठाऊँ,
हिन्दी की चौड़ी घाटी में
दरिया एक बहाऊँ।

लेकिन, कहाँ सदी औ' अकबर ?
और कहाँ मैं पोला ?
उसपर गजब, कला का अबतक
चुस्त नहीं है चोला।

रक्त-हीन जो कला पूजती
केवल शब्द-चयन को,
कैसे बाँध सकेगी वह
तूफाँ, आँधी, प्लावन को ?

उसपर मैं बहका-बहका-सा
हूँ तन-मन से भारी,
कला-पारखी सच ही कहते
कुछ-कुछ मुझे अनाड़ी।

टेढ़ी-मेढ़ी चाल नदी की,
और राह में रोड़े,
बिगड़ गई तस्वीर कहीं,
तो पीठ गिनेगी कोड़े।

नई लिखूँ तो सदी और
अकबर से भी डरता हूँ,
मगर खैर, कुछ हँसी-हँसी में
ही कोशिश करता हूँ।

माना मैं कुछ नहीं, कला भी
नाजों की पाली है,
सब कुछ सही, मगर, हिन्दी-
भाषा तो बल वाली है।

अच्छा, मेरी कठिनाई की
पूरी हुई कहानी,
अब देखिए, चला चोटी से
उछल-कूद कर पानी।

उठता-गिरता शोर मचाता,
पत्थर पर सिर धुनता,
अपने ही गर्जन की चारों
ओर प्रतिध्वनि सुनता।

घबराता-सा, शिला-गोद से
नीचे उछल उतरता,
फूल-फैल कर पल में घाटी
की खाई को भरता।

हा-हा करता, धूम मचाता,
बल से अकड़ उबलता,
गर्जमान, पागल-सा मुँह से
रह-रह झाग उगलता।

चट्टानों के बीच साँप-सा
टेढ़ी राह बनाता,
सरक सरक चलता, पत्थर से
जहाँ-तहाँ टकराता।

अभी उछल कर यहाँ फुहार,
उठता, और चढ़ता,
अभी वहाँ हो दूर पेड़ से
नीचे धीरे उतरता।

तीखी ढलवानों में आकर मचलता,
गाता और बजाता,
गली हुई चाँदी को दिन की
आभा में चमकाता।

.

इस पौधे का फूल चुराकर
लहरों पर तैराता,
इसको एक थपेड़ा देता,
उसको छेड़ चिढ़ाता।

इस घाटी से अंग बचाता,
उस घाटी से सटता,
फटता यहाँ, वहाँ सकुचाता,
डरता, सिकुड़-सिमटता।

यहाँ घनी झुरमुट में अपने
को हर तरह छिपाता,
वहाँ निकल घासों पर उजली
चादर-सी फैलाता।

कहीं बर्फ की चट्टानों में
निज को चित्रित करता,
कहीं किनारों के फूलों का
बिम्ब हृदय में भरता।

कंकड़ियों पर यहाँ दौड़ता,
आगे पैर बढ़ाता,
वहाँ शाल-वन की छाया में
ठहर जरा सुस्ताता।

झुकी डालियों के पत्तों को
छूता हुआ लहर से,
सुनता कूजित गीत विहग का
झुरमुट के भीतर से।

वन के लाखों जीव-जन्तुओं
से परिचय दृढ़ करता,
सब की आंखें बचा भागता
आगे उठता-गिरता।

लहरों की फौजें असंख्य ले
घहराता-हहराता,
देख दूर से ही रुकावटों
पर बकता-चिल्लाता।

लो, देखो, वह आन पहुँचा
गाता मस्त सुरों में,
कोलाहल करता खेतों,
खलिहानों, गांव-पुरों में।

चौड़ी छाती फुला अकड़ता,
अल्हड़ धूम मचाता,
छाता चारों ओर एक
जल-थल का समाँ रचाता।

जिधर उठाओ नजर, उधर है
केवल पानी-पानी,
बाढ़ कहो तुम, मगर, यही है
चढ़ती हुई जवानी।

कोलाहल है, आर्त्तनाद है,
है यह त्रास समाया,
हटो, बचो, अबकी यह पानी
काल-सरीखा आया।

और, काल-सा ही यह पानी
चला जा रहा बढ़ता।
देहली, दीवारों, ऊँचे-
टीले, छप्पर पर चढ़ता।

हाँ, देखो, वह चला जा रहा
लाखों को कलपाता,
खेत किसी का डुबो, किसी का
छप्पर तोड़ बहाता।

बड़े-बड़े बाँधों को टक्कर मार,
तोड़ कर बहता,
अपने ही बल के वेगों से
व्याकुल उमड़ा उमहता।

टोकों को अनसुनी किये-सा,
रोकों से टकराता,
ताल ठोंक सब ओर जवानी
के जौहर दिखलाता।

मीलों तक मिट्टी कगार की
काट उदर निज भरता,
बड़े-बड़े पेड़ों की जड़
पल में उत्पाटित करता।

महाकाय जल-यानों को
भँवरों में घेर नचाता,
बड़े-बड़े गजराजों को
पत्तों की तरह बहाता।

गीली मिट्टी लेप बदन में,
बना हुआ दीवाना,
छाता बन कर नाश और
गाता अलमस्त तराना।

औढर दानी-सा नालों का
घर बिन माँगे भरता,
और लुटेरे-सा किसान के
हरे खजाने हरता।

टीलों पर चढ़ने को हठयोगी-
सा धुनी रमाता,
और नीच-सा खाई में
गिर जाने को अकुलाता।

गाँव, शहर, खलिहान, खेत को
छूता, अलख जगाता,
चला जा रहा महापथिक-सा
हँसता, रोता, गाता।

देखो गिरि से दूर सिन्धु-तक,
जल की एक लड़ी है,
कहें कहाँ तक? इस प्रवाह
की महिमा बहुत बड़ी है!

बहुत हुआ, अब आज खत्म
करता हूँ यहीं कहानी,
गरुचे अब भी उसी वेग से
बहा जा रहा पानी।

—:x:—

कवि का मित्र

(१)

आहट हुई; हुई फिर "कोई है ?" की वही पुकार,
कुशल करें भगवान कि आया फिर वह मित्र उदार।
चरणों की आहट तक मैं हूँ खूब गया पहचान,
सुनकर जिसे काँपने लगते थर-थर मेरे प्रान।

मैं न डरूँगा पड़े अगर यमदूतों से भी काम;
मगर, दूर से ही करता हूँ श्रद्धा सहित प्रणाम
उन्हें, नहीं आकर जो फिर लेने जाने का नाम।

(२)

मेरी कुर्सी खींच, बैठ कर बहुत पूछता हाल,
(कह दूँ ? आहट सुनी तुम्हारी, और हुआ बेहाल।)
उलट-पुलट कविता की कापी देने लगता राय,
कहाँ पंक्तियाँ शिथिल हुई हैं ? कहाँ हुई असहाय ?

देता है उपदेश बहुत, देता है नूतन ज्ञान,
मेरी गन्दी रहन-सहन पर भी देता है ध्यान।
सब कुछ देता, एक नहीं देता अपने से त्राण।

(३)

झपट छीन लेता है मेरे हाथों से अखबार,
कहता, 'क्या पढ़-पढ़ कर अपने को डालोगे मार ?'
फिर कहता, 'कुछ द्रव्य जुगा कर खड़ा करो कुछ काम,
पैसे भी कुछ मिलें और हो दुनिया में भी नाम।'

सब सिगरेट खत्म कर कहता, एक और दो यार,
बक्से खोल, दराज खोलता रह-रह विविध प्रकार।
एक नहीं खोलता कभी बाहर जाने का द्वार।

(४)

कभी-कभी आकर देने लगता है शुभ संवाद,
'रगड़ रहे हैं तुम्हें आजकल फलाँ-फलाँ नक्काद;
मैं सह सकता नहीं तुम्हारा ऐसा तीव्र विरोध,
अभी एक को डाँट दिया, आया ऐसा कुछ क्रोध।'

डिब्बा खोल, पान खा-खा कर करता है आराम,
तरह-तरह की बातें कहता ही रहता अविराम।
लेकिन, कभी नहीं कहता, 'अच्छा, अब चला, प्रणाम।'

(५)

यही नहीं, अनमोल समय की मुझे दिलाकर याद,
कहता, 'तुम गप्पों में करते बहुत वक्त बर्बाद ।
जब देखो तब मित्र पड़े हैं डटकर आठो याम ।
इस प्रकार कब तक चल सकता है लेखक का काम ?

आशा कितनी बड़ी लगा तुम से बैठा है देश,
और इधर तुम बकवासों में समय रहे कर शेष।'
सिर्फ सुनाना ही है, सुनता स्वयं नहीं उपदेश ।

(६)

चाहे जितना सिर खुजलाऊँ, मुद्रा करूँ मलीन,
कलम पकड़, सिर थाम, कल्पना में हो जाऊँ लीन ।
चाहे जितने करूँ नाट्य, पर कभी न डिगता वीर,
किसी तरह की मुद्रा से होता है नहीं अधीर ।

कहता, 'हाँ, तुम लिखो; इधर में बैठा हूँ चुपचाप;'
मैं कहता, मन-ही-मन, बाकी अभी बहुत हैं पाप ;
लिखूँ खाक, जब तक दिमाग पर चढ़े हुए हैं आप ?

—:❀:—

दो बिघा जमीन

(१)

ऋण में संपद गई; सिर्फ दो बिघा भूमि थी साथ;
बाबू बोले, "इसे बेच दो मँगरू! मेरे हाथ।"

मैंने कहा, "भूमि-स्वामी तुम, तुम्हें न भू का क्लेश।"
मरने भर को यही एक टुकड़ी है मुझको शेष।"

मालिक बोले, "लगा रहा मैं, मँगरू! एक बगान,
बिना लिए यह खेत न होंगे चारों कोन समान—

यह तो देना ही होगा।" तब मैं बोला कर जोड़—
"मुझ गरीब पर जरा करें सरकार, कृपा की कोर।

सात पुश्त तक जिसको सेकर पुरखे हुए निहाल,
उस माता को आज बेच दूँ, ? मैं ऐसा कंगाल ?"

चढ़ी आँख बाबू की, भौं पर उगी कोप की रेख;
क्रूर हँसी हँस बोले—"अच्छा, सो लूँगा मैं देख।"

(२)

अगले मास चला मैं रोता, छोड़ धरा औ' धाम;
झूठे ऋण का हुआ मुकदमा, जभी हुई नीलाम।

जग में जिसे बहुत है, उसको ही न कभी संतोष,
राजा का कर सदा चुराता कंगालों का कोष।

सोचा, बाँध कहीं क्यों रखते मुझको जगदाधार,
इसी लिए दे दिया दो विघे के बदले संसार।

संन्यासी बन फिरा घूमता बरसों देश-विदेश,
देखे अगणित धाम मनोहर, सुन्दर दृश्य अनेक।

भूधर, सागर, विजन, नगर नूतन, खंडहर प्राचीन,
जो देखूँ, पर नहीं भूलती वह दो विघा जमीन।

पन्द्रह-सोलह बरस इसी विधि सहता फिरा कलेस,
इच्छा हुई, देख आऊँ फिर एक बार निज देस।

(३)

नमोनमः शत बार सुन्दरी बंगभूमि अभिराम,
उज्ज्वलहासिनि, तापविनाशिनि, शत-शत प्रणत प्रणाम।

चरणों की पावन रज से भूषित अम्बर का भाल,
शान्ति-नीड़-वन्, छाया-सेवित, ग्रामों की लघु माल।

सघन आम्र-कानन, हँसते गोपों के क्रीड़ागार,
अतल, स्निग्ध, कज्जलवर्णा सरिता की शीतल धार।

रसमाती, मधुमयी वंग-वधू जल ले जाती गेह,
मा क्या कहूँ ? गला भर आता, दृग में भरता स्नेह।

दो दिन बाद, द्वितीय प्रहर में पहुँचा अपने ग्राम,
इस घर को दाहिने छोड़ कर, उस घर का ले वाम।

सब की आँखें बचा, भरे अपनी आँखों में प्यास,
तृषावन्त आखिर मैं आया अपने घर के पास।

(४)

धिक्-धिक् ? शत धिक्कार ! अरी कुलटे धरती बेशर्म ?
जब जिसकी, तब तिसकी पापिनि, यही जननि का कर्म ?

थी दरिद्र की कभी जननि, निष्ठुरे ! गई क्या भूल ?
अंचल में भर कर रखती थी शाक, पात, फल, फूल।

किसकी रति में आज मुग्ध हो बना लिया यह बेश ?
पँचरंगे पत्ते अंचल में सुमन-सुसज्जित केश।

मैं तेरे कारण भिक्षुक बन घूम रहा गृह-हीन,
काट रही दिन अरी राक्षसी ! तू विलास में लीन।

धनिक-प्रेम पर गर्व न करना, बस इतनी ही भिन्न,
शेष नहीं पहले का कोई किसी अंग पर चिह्न।

सुधाहरा, कल्याणमयी थी कभी सुधा की धार,
देवी थी, दासी है, चाहे जितना करे सिंगार।

(५)

रहा घूमता उस बगान में मैं व्याकुल, बेहाल,
एक किनारे मिला खड़ा प्यारा प्राचीन रसाल।

उसके नीचे बैठ, अश्रु में व्यथा हुई कुछ शान्त,
करने लगी उदित हो-हो बचपन की सुधि उद्भ्रान्त।

जेठ-मास की झड़ी सुहावन, मैं निशि भर निर्घूम,
बड़े भोर दौड़ना, बाग में आम-चयन की धूम।

निकल भागना दोपहरी में छोड़ पठन का काज;
सोचा, हाय, लौट आयेगा वह जीवन क्या आज ?

सहसा डोली डाल, पवन का पा सवेग निःश्वास,
पके आम दो गिरे भूमि पर आकर मेरे पास।

सचमुच, माँ ने बड़ी देर पर लिया मुझे पहचान,
सीस झुका मैंने चूमा वह मधुर प्रेम का दान।

(६)

इसी समय दौड़ा चिल्लाता माली काल-समान,
सप्तम सुर में चीख-चीख पढ़ता अपशब्द-पुरान।

मैंने कहा, 'दे चुका सब कुछ मैं कब का चुपचाप
केवल दो फल लिए, हाय उस पर इतना अभिशाप।'
बीन्ह न पाया, मुझे पकड़ ले गया खींच धर हाथ,
हंसी खेल रहे थे मालिक जहाँ मित्र के साथ।
सुन अभियोग कहा बाबू ने, 'खून करूँगा आज',
एक गुना गुस्सा मालिक का, सौ गुन सभा-समाज।
किया निवेदन, "भीख माँगता हूँ दो फल, कर जोड़।"
बाबू बोले—"साधु बना फिरता है साला चोर!"
मन-ही-मन मैं हँसा सोच कर "यह अच्छी दस्तूर।
मैं ही चोर, साधु बन बैठे सचमुच आज हुजूर।"

—:- -:—

तन्तुवाय

(१)

भोर हुआ; पर, मात्र झलकता अभी अरुण आभास;
किसके लिए लगे बुनने तुम तन्तुवाय, यह वास ?
चित्र-विहग के पंखों-सा चिकना, गुलगुल रंगीन।
"हम बुनते हैं स्तनपायी शिशु का परिधान नवीन।"

(२)

चाँद गया चढ़ मध्य व्योम में, निशा हुई गंभीर;
तब भी किसके लिए रहे बुन तन्तुवाय, यह चीर ?
सतरंगा पट ? या बुनते हो पाँख मोर की प्यारी ?
"हम बुनते हैं नव-विवाहिता के सुहाग की साड़ी।"

(३)

आज स्तब्ध, श्रीहीन चाँदनी में करते श्रम घोर,
तन्तुवाय, तुम क्या बुनते हो मुद्रा किये कठोर ?
मेघ-शुभ्र यह वसन श्वेत पक्षी के पंख समान।
"हम बुनते हैं कफन, मनुष्यों का अन्तिम परिधान।"

—:❀:—

कैंची और तलवार

[अम्बर (जयपुर) के महाराज जयसिंह का विवाह कोटा-राज्य की राजकुमारी हरावती के साथ हुआ था। रानी हरावती गौरवशालिनी राजपूत-रमणी थीं और ससुराल में भी अपने पितृ-राज्य का ही लिबास पहना करती थीं। उस समय के लिबास में एक चीज 'जूप' कहलाती थी, जो ओढ़नी या चादर के किस्म की होती थी। अम्बर वालों ने बहुत पहले ही दिल्ली के बादशाह (सुलतान) और दिल्ली-राजघराने के साथ विवाह - सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। दिल्ली की रहन - सहन को अपनानेवाला पहला राजस्थानी राज्य अम्बर ही था, जहाँ की स्त्रियाँ भी अपने स्वदेशी लिबास को पिछड़ा हुआ और पुराना जानकर दिल्ली के लिबास को अपनाने लगी थीं। महाराज जयसिंह की इच्छा थी कि उनकी महारानी भी कोटा के भद्दे लिबास को छोड़कर नये ढंग का लिबास पहनें, जो दिल्ली के अनुकरण पर अम्बर के राजघराने में चल रहा था। नीचे की कविता इसी प्रसंग से सम्बन्ध रखती है।]

(१)

दिल्ली से सम्बन्ध जोड़, अपना आदर्श विसार,
तुर्की चालें सीख रहा था अम्बर का दरबार।

रहन-सहन, आचार, सभ्यता, ठाट-बाट, परिधान,
था आदर्श सभी बातों में दिल्ली का सुलतान।

सीख रहे थे नहीं सिर्फ नर ही दिल्ली के ढंग,
था चढ़ रहा नारियों पर भी नया मुगलिया रंग।

अपनी रस्म-रवाज गई सब आजादी के साथ,
दिल्ली की थी नकल लगी अम्बर वालों के साथ।

(२)

नये ढंग से सँवर रहा था अम्बर का दरबार,
मगर, चल रहा था कोटा में पहला ही व्यवहार।

वही पुरानी घघरी-चोली, वही पुरानी साड़ी,
तन पर लम्बा जूप और कबरी में तेज कटारी।

कोटा की सिंहनी बनी थी नहीं अभी तक मैना,
थी रखती नख तेज, न रँगने अभी लगी थी डैना।

अम्बर वाले बेच चुके थे दिल्ली में ईमान,
किसी तरह थी बची हुई लेकिन, कोटा की शान।

(३)

तब कहते हैं, एक बार (यह किस्मत की लाचारी)
अम्बर की रानी बन आई कोटा की सुकुमारी।

अम्बर, जिसके राजमहल में भरी हुई थीं परियाँ,
हाव-भाव में, चटक-मटक में मँजी हुई सुन्दरियाँ।

सुघर वेश-विन्यास, अंग में छोटे-छोटे गहने,
नये रंग के कपड़े-लत्ते, नये ढंग से पहने।

साड़ी ऐसी नपी-तुली जो नहीं कहीं से ढीली,
केशों में न कटार, न तन पर चादर घनी फबीली।

(४)

इन परियों के बीच कुमारी कोटा की थी ऐसी,
सचमुच ही, चिड़ियां में कोई लगे सिंहनी जैसी।

चाल-ढाल, पोशाक, सभी कुछ पहली ही अपनाये,
राजपूत-रमणी के गौरव को हर तरह बचाये।

ओढ़े लम्बा जूप, छिपाये भली भाँति निज तन को,
सरल वेश से कम्पित करती सारे राजभवन को।

जीती थी वह लिये आँख में गहरी एक उदासी,
दबी राख में चिनगारी-सी, बँधी हुई महिमा-सी।

(५)

और, इधर जयसिंह चाहते थे नित नया विलास,
उन्हें फिक्र थी, पहनें कैसे रानी नया लिबास।

मगर, सिंहनी के भय से कुछ बोल नहीं पाते थे,
मन के मनसूबे मन में ही उठ कर दब जाते थे।

आखिर, एक दिवस रानी का कुछ प्रसन्न मुख पाके,
हँसी-हँसी में राजा बोले कैंची एक उठाके—

"देवि! थान-भर जूप आपका है कुछ मुझे अखरता,
इसमें तो दब कर रह जाती है सारी सुन्दरता।

(६)

"जरा देखिए अम्बर की सुन्दरियों का परिधान,
भला, आजकल कौन ओढ़ती तीस हाथ का थान।

अच्छा हो, दें छोड़ आज से यह पोशाक पुरानी,
नई काट के वस्त्र करें धारण अम्बर की रानी।

अगर हुक्म हो, काट गिराऊँ यह कोटा का झूल,
अम्बर का परिधान आज से रानी करें कबूल।"

आगे कहें-कहें कुछ तब तक चमकी तेज कटार,
कोटा को सिंहनी काँपती हुई उठी हुंकार—

(७)

"सावधान हों महाराज, बोलें सँभाल कर बोली,
कोटा की बेटी सह सकती ऐसी नहीं ठिठोली।

दिल्ली में बिकतीं जो पोशाकें इज्जत के मोल,
पहना करें उन्हें अम्बर के महाराज जी खोल।

नहीं चाहिए मुझे आपका यह अमूल्य परिधान,
कोटा की बेटियाँ पहनती हैं इज्जत-सम्मान।

वह सम्मान गुँथा है इसके तार-तार के साथ,
खबरदार, जो कभी लगाया फिर चादर पर हाथ।

याद रहे, रखते हैं जैसी कैंची राजकुमार,
उससे कहीं तेज चलती है कोटा की तलवार।"

—:❀:—

पुरातन भृत्य

(१)

भूतों-सा चेहरा काला है, वज्र-मूर्ख अति घोर।
कुछ खोता तो गृहिणी कहती, 'किसुना ही है चोर।'

बात-बात पर डाँटो, पर, वह नेक न करता कान,
बेंत लगें, वेतन कटता हो, उसे न इसका ध्यान।

'रे किसुना!' कह उसे बुलाते हम कर-कर चीत्कार,
पर, मिलता वह कहीं न, चाहे ढूँढ़ थको संसार।

एक चीज लाने कहते तो ले आता है तीन,
तीन कहो तो एक रखेगा, दो का पता कहीं न।

जहाँ-तहाँ दिन में छिप लेता निद्रा का आनन्द,
मैं पुकारता चीख-चीख कर, 'ओ पाजी, मतिमन्द!'

तब हँसता वह खड़ा द्वार पर जल उठता है पित्त,
मैं ममता-वश छोड़ न सकता, बड़ा पुरातन भृत्य।

(२)

गृहिणी रूखी होकर कहती, "और सहूँगी मैं न;
लो अपना घर-द्वार, करो किसुना को लेकर चैन।

गोबर न रखता, घर की चीजें बिखरीं ठौर-कुठौर,
रुपया पानी-सा बहता है, कहो, कहूँ क्या और।

सारा दिन आता न लौट कर जाता यदि बाजार,
दुनिया में है क्या न दूसरा कोई खिदमतगार?"

धीरज छोड़, तुरत चुटिया धर लाता उसको खींच,
कहता, 'निकल हमारे घर से, फिर मत आना नीच।'

वह जाता, धीरे मैं कहता, भले गया, पर प्रात—
हुक्का भर लाता वह, मानों, हुई न कोई बात।

अति प्रसन्न-मुख, तनिक नहीं दुख, जरा न कातर चित्त,
छोड़े भी छुटता न, करूँ क्या? बड़ा पुरातन भृत्य।

(३)

कुछ धन जमा दलाली में करके मैं ने उस साल,
सोचा, वृन्दावन चल कर जीवन को करूँ निहाल।

गृहिणी साथ लगी, तब मैं ने कहा धर्म का अर्थ,
"पत्नी पति की पुण्य-भागिनी, व्यय न बढ़ाओ व्यर्थ।"

गठरी बाँध, बाक्स में भर कर आवश्यक सामान,
कंगन झनकाती गृहिणी रो कर बोली, "हे प्राण!

साथ नहीं लेना किसुना को; दुख पाओगे नाथ!"
मैं बोला—"छिः क्या कहती? नकटा जायेगा साथ।"

लेकिन, पहुँचा बर्दमान ज्यों ही त्यों वाह!
देखा• हुक्का लिये किसुन जी देख रहे हैं राह।

उफ, इसकी ज्यादती सहूँगा और कहाँ तक नित्य?
जो कुछ हो, पर, मैं हर्षित था देख पुरातन भृत्य।

(४)

पहुँचा धाम, चतुर्दिक छाये पण्डे और प्रधान,
माथा भुँका दिया उन सबने, किया कण्ठगत प्राण।

कुछ मित्रों के साथ दिया मैंने फिर डेरा डाल,
समझा, सुखसे कट जायेगा तीर्थ-धाम का काल।

पर कैसी व्रजबाला? माला कहाँ? कहाँ हरि हन्त!
चिर-वसन्त वह कहाँ? हुआ मुझको ही यहाँ वसन्त❀।

भग्न-स्वप्न-से मित्र सभी चल पड़े अकेला छोड़,
निर्जन घर में सहता हूँ मैं व्याधि-यंत्रणा घोर।

करुण, क्षीण स्वर में कहता हूँ—"आओ जरा समीप,
बुझ जायेंगे किसुन, तुम्हारे बिना प्राण के दीप।"

• चेचक रोग

जी भर आता उसे देख; वह मेरा अनुपम वित्त;
निशि-दिन सिरहाने रहता है खड़ा पुरातन भृत्य।

(५)

कुशल पूछता, मुँह में जल, सिर पर देता है हाथ,
नींद हराम, न खाता कुछ, क्षण भर न छोड़ता साथ।

बार-बार कहता—"मालिक, मत डरो, न डर की बात;
देश पहुँच खाओगे फिर माँ के हाथों का भात।"

मैं चंगा ज्यों हुआ, तुरत ज्वर उस पर हुआ सवार,
मेरी काल-व्याधि का उसने लिया स्व-तनु पर भार।

बेहोशी में कटे दिवस दो, नाड़ी रुकी विभोर,
बहुत छुड़ाना चाहा था, पर, आज गया वह छोड़।

बहुत दिनों पर घर लौटा, पूरा कर सारा तीर्थ,
किन्तु, न आज साथ है मेरे हाय, पुरातन भृत्य।

—:❀:—

भारतेन्दु स्मृति

कवि-पूजन का पुण्य-पर्व है, बन्धु ! कहो, क्या आज कहूँ ?
नवयुग का सन्देश, सुनो, तो इस पूजा के व्याज कहूँ ।

भारतेन्दु थे इन्दु हमारे, तुम आशा के तारे हो;
भावी इन्दु, अमा-अंचल के नन्हें दीप दुलारे हो ।

बनने को आलोक देश का करो अभी से तैयारी;
याद रखो, ज्वाला बनती है यही चमकती चिनगारी ।

भारतेन्दु-सा ही तुम जीवन में आगे बढ़ना सीखो ;
सेवा-व्रती बनो, तुम भी गौरव-गिरि पर चढ़ना सीखो ।

मस्ती के पुतले उस कवि को मोद न मिला अमीरी में,
आग लगा दौलत में आखिर ढूँढ़ी शान्ति फकीरी में ।

वत्स ! विश्व अज्ञेय जाल है, इसमें कैद नहीं होना ;
शैशव की निर्मल उमंग यौवन में कभी नहीं खोना ।

सींची हिन्दी-लता उन्होंने, तुम वसन्त में फूल बनो;
कुछ पंखुरी, रंग कुछ उसका, कुछ मधुरस, कुछ धूल बनो।

फैले विभा तुम्हारी जग में, अम्बर-लता अमूल बनो;
सुनो समय की हाँक, वत्स ! अपने युग के अनुकूल बनो।

हरिश्चन्द्र-सा काल-धर्म पर न्योछावर होना सीखो;
शिशु हो, कैसे कहूँ कि किस्मत पर अपनी रोना सीखो ?

तज अतीत का ध्यान खेत में नया बीज बोना सीखो;
सच्चे कवि की भाँति धूल को भी करना सोना सीखो।

कवि-पूजन का पुण्य-पर्व है, प्यारे ! आज हृदय खोलो;
उगा इन्दु, आरती सजाओ, भारतेन्दु की जय बोलो।

—:०:—

वर-भिक्षा

(१)

ऊहारू, जापान देश की एक पोड़शी बाला,
पहने सद्यः-छिन्न लाल चेरी * फूलों की माला।

माँग रही पति-वर मन्दिर में छवि की विभा बिखेर,
(चन्द्रमल्लि खिल रही उहारू के अंगों को घेर।)

(२)

दो ऐसा पति मुझे विधाता ! जो न अचलता त्यागे,
नत हो रहें चराचर जिसके निःश्वासों के आगे।

दिवा-रात्रि-प्रेरक जो नर हो सूर्य-सोम समतूल।
(थर-थर करती चन्द्रमल्लि, थर-थर चेरी के फूल।)

(३)

विनय सुनो हे देव-प्रजापति ! ऐसा मेरा वर हो,
सानु-कुंज के मर्मर-सा जिसका रहस्यमय स्वर हो।

सानु-कुंज वह, जिसमें करता चुपके चाँद विहार।
(चेरी-चन्द्रमल्लि ऊहारू में मिल एकाकार।)

---

* जापान में चेरी के फूल वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे भारतवर्ष में कमल के फूल।

(४)

दो वह नर, जिसके कटाक्ष हों पागल करनेवाले,
प्राणों में अफीम के फूलों का मद भरनेवाले।
जिसका प्रेम सघन, खग-कूजित कानन हो निःशूल।
(चन्द्रमल्लि उहारु-हृदय में, मुख पर चेरी फूल।)

(५)

वह नर, जिसकी वाणी हो गंभीर जलधि-गर्जन से,
जो ला सके अपूर्व सुरभि मेरे हिम अपर भुवन से ;
मन पर जमी पपड़ियों को जो सके स्पर्श से तोड़।
(चन्द्रमल्लि, चेरी, दोनों की बढ़ी परस्पर होड़ ;)

(६)

सहज दृष्टि से मुझे निहारे जो वर पुरुष प्रशान्त,
यथा उषा की ओर देखता भू का श्यामल प्रान्त।
जिसके चुम्बन से खिल मैं रमणी बन जाऊँ पल में।
(दृग में चन्द्रमल्लि, चेरी की पाँति खिली कुन्तल में।)

(७)

दो वह वर जिसकी स्मिति से सान्त्वना युक्त हों प्रान,
जिसको विभा मुझे सेवे सुख-दुख में एक समान।

जिसका स्नेह उदार, मधुर हो, ज्यों ग्रीषम की छाया।
(प्राणों में शशिमल्लि, चेरि-चर्चित उहारु की काया।)

(८)

दो वह पति जिसकी प्रतिमा अहरह बसती है मन में,
जन्म-बन्धु जो कभी आज तक बिछुड़ा नहीं मरण में।

जनारण्य में आज कहीं जिसको आई हूँ भूल।
(चन्द्रमल्लि मूर्च्छित उर पर, मूर्च्छित चेरी के फूल।)

(९)

दो वह युवक, हृदय में जिसके मैं बसती अविराम,
जिसके मन में, स्यात् चुकी हूँ लिख मैं अपना नाम—

नहीं ज्ञात, किस जन्म-कुंज में, किस मधुपूर्ण लगन में।
(चेरी से मिल चन्द्रमल्लि खिल रही उहारू-तन में।)

रौशन बे की बहादुरी

रौशन बे बलवान डाकुओं का नायक कहलाता था,
सौदागर का माल वनों में लूट-मार कर खाता था।

कैरत एक उसे था घोड़ा,
जिसने कभी नहीं मुँह मोड़ा;
करता बात हवा से था वह
सटता कहीं बदन से कोड़ा।

काँटों, गढ़ों, नदी-नालों को सहज लाँघ वह बढ़ता था,
समय पड़े पर बड़े-बड़े शैलों पर भी त्यों चढ़ता था।

सब घोड़ों से अपर, दुलारा,
डाकू की आँखों का तारा,
रमणी, कनक, प्रिया से भी प्रिय,
रौशन को प्राणों से प्यारा।

रौशन के अत्याचारों से कंपने लगी प्रजा सारी,
तब रिहान उद्दीन चोर की करने चला गिरफ्तारी।

कुछ ने बर्छे बड़े निकाले,
कुछ ने लिये हाथ में भाले,
सौ सवार चल पड़े साथ हो
सभी एक से एक निराले।

सौ अरबों को देख डाकुओं का दल डर कर भिन्न हुआ;
मगर, वीर रौशन का मन कुछ भी न मलिन या खिन्न हुआ।

झट-पट फाँद गया कैरत पर,
किया सलाम शत्रु को हँस कर,
मारी एँड़, चला कैरत उड़,
मानों, हों लग गए उसे पर।

समतल छोड़ शैल पर पहुँचा, अरबों ने लोचन मींचे,
मियाँ रिहान चले घाटी में, पर्वत के नीचे-नीचे।

लुढ़क रहे पत्थर खुर से लग,
कैरत शिखर-शिखर जाता है;
औ' रिहान हिम्मत के पुतले
से मन-ही-मन घबराता है।

पर, यह क्या ? सहसा रौशन के शैल-पन्थ का अन्त हुआ,
तीस फीट की दरी सामने, अल्ला रे ! क्या हन्त, हुआ ?

इधर शिखर है, उधर शिखर है,
बीचों-बीच बड़ी खाई है,
फाँदे कौन हवा पर चढ़ कर,
यों किसकी शामत आई है ?

उछल पड़े सब अरब खुशी से "या अल्ला ! अल्ला ! अल्ला !
मुड़ो यार, पीछे, अब पकड़ें; भागोगे किस तरह भला ?

रौशन उतर पीठ से, कैरत
को पोंछा, रोयाँ सहलाया,
चूम-चूम उसकी आँखों को
गले मिला, गाना कुछ गाया।

बोला पीठ पोंछते, "मेरा कैरत मुझको प्यारा है,
कौन पकड़ सकता जब तक यह साथी वीर हमारा है ?

आँखें कैसी तेज चमकतीं !
कोन अनोखे, कजरारे हैं,
क्या होंगे रमणी-कच ऐसे,
जैसे ये अयाल प्यारे हैं !

रेशम-से रोयें चिकने, तीरों-सा चलने वाला है,
बहुत कहूँ क्या ? कैरत मेरा कुल अरबों से आला है।

सात लाल का हार गले में,
और तीस मोती की लड़ियाँ,
दूँगा चाँदी-नाल खुरों में,
पैरों में सोने की कड़ियाँ।

रतन गुँथा दूँगा बालों में, नृप का मुकुट लजाऊँगा;
रेशम की जरपोश जीन से कैरत, तुझे सजाऊँगा।

तू है मेरे साथ, और
तो भी रिहान से आज डरूँ मैं ?
कैरत, क्या तू यही चाहता
दुश्मन के ही हाथ पड़ूँ मैं ?

अगर नहीं, तो लिये पीठ पर मुझे दरी तू पार करे,
या ज्यों साथ-साथ जीते थे साथ-साथ त्यों आज मरे।

हय ने चारों पाँव एक कर
एक बार खाई को देखा।
रौशन फाँद पीठ पर बैठा,
निडर और सुस्थिर ज्यों रेखा।

कूद गया वह दरी, दूसरी चोटी पर जा कर बोला,
वीर बहादुर रौशन बे का कोई अंग नहीं डोला।

नीचे पड़ी दरी में छाया,
मियाँ रिहान बड़ा घबराया,
ऊपर जीवन-मरण-नाट्य को
देख बड़ा विस्मित चिल्लाया –

"या अल्ला ! अल्ला ! अल्ला हू ! या अल्ला ! अल्ला ! अल्ला !
रौशन से बाजी खेले जो ऐसा नर है कौन भला ?"

नींद

जिसने आविष्कार किया
निद्रा का, उसकी जय हो,
मरने पर भी कभी स्वर्ग में
उसे न किंचित् भय हो।

खोज निकाली नींद, और फिर
की क्या अच्छी बात,
निज तक इसे रोक रखने का
किया नहीं उत्पात।

लेकिन, देना दण्ड कठिनतम
उसे विधाता मेरे;
जिसने किया प्रचार, चाहिये
उठना बड़े सवेरे।

"उठो लवा के साथ सवेरे,
साथ लवा के सोओ।"
लोगों के सुख की मिट्टी पर
मूढ़ ! न यों विष बोओ।

कहने को तो नियम गई कह
जीभ तुम्हारी तेज,
मगर, पूछता हूँ, क्या चिड़ियों
के भी होती सेज ?

सुबह नींद की खास घड़ी है,
अलसाई, मत वाली,
वही वक्त है जब कि नींद पर
जमती है कुछ छाली।

मूल्यवान सिर तब तक करता
है तकिये पर वास,
धरती पर जब तक न फैलता
अच्छी तरह प्रकाश।

किसे नहीं मालूम, भला है
कभी-कभी जग जाना ?
कर लेना सत्कर्म, सत्य से
आँख न सदा चुराना।

पर, जीवन भर की बातों पर
जब करते दृक्पात,
हमें एक के सिवा सूझती
नही दूसरी बात।

सारी उम्र कटी कुत्सा,
पछतावे या रोने में ;
सुख का समय कभी बीता
तो बचपन या सोने में।

—:ङ:—

तीन दर्द

(१)

दर्द, प्यारे दर्द, तेरा क्या करूँ सम्मान ?
हाय, यदि होती मुझे सामर्थ्य,
मैं हृदय को बाँसुरी देती बना,
और तू बन फूटता कल गान।
दर्द, प्यारे दर्द, तेरा क्या करूँ सम्मान ?

(२)

किस तरह तुझको जुगाऊँ वेदने ! अनमोल !
काँपते कर से किसी विधि हाय,
मैं बना पाती तुझे तलवार,
वार देती, देश—घायल देश की जय बोल।
किस तरह कर दूँ अमर अयि वेदने ! अनमोल !

(३)

ओ भयानक शोक ! प्यारे शोक ! मीठे शोक !
तीव्र सब से
और सब से भव्य, दिव्य, पवित्र;
मैं तुम्हें अंकित करूँगी देव-मन्दिर में,
कर सकी प्रसरित जहाँ से तुम अमर आलोक।
शोक ! मेरे शोक ! प्यारे शोक !

—:❀:—

पुस्तकालय

पानी पर मिट्टी छाली-सी
फैली, जम कर कड़ी हुई,
कहते हैं, धरती यों जन्मी
खर-पातों से भरी हुई।

रवि-शशि जन्मे; किरण-योग से
जल में सातो रंग बने;
मानव बना; बने पशु-पक्षी;
अगणित कीट-पतंग बने!

दुनिया बनी; मगर, नर को
अब तक न बोलना आता था;
अपने मन का भेद दूसरों
पर न खोलना आता था।

सदियों रहा हाल यह; नर जब
सीख न पाया वचन-कला;
ब्रह्मा रोये–"हाय, द्विपद प्राणी
यह भी गूँगा निकला।

"आशा थी, इसके छूने से
तार सृष्टि के बोलेंगे,
फूल करेंगे बात और
पत्थर अपना दिल खोलेंगे।

"सो खुद भी गूँगा है अब तक;
अब क्या हो ? बोलो वाणी।
मैं तो हार थका, दुनिया पर
दया करो हे कल्याणी !"

वाणी ने वरदान दिया,
"लो, मनुज आज से बोलेगा;
मुख होगा यह सकल सृष्टि का
भेद सभी का खोलेगा !

"जल में, थल में, आसमान में,
अथवा मिट्टी के अन्दर,
जितने जौहर छिपे हुए हैं
सब को देख सकेगा नर।

"सब को देख सकेगा, सब पर
मोटे ग्रन्थ बनायेगा,
कभी-कभी मन की पीड़ा को।
श्लोक बना कर गायेगा।"

अकस्मात् खुल गई मनुज की
मुंदी आँख भीतर वाली,
अपने चारों ओर खुशी से
भरी नजर उसने डाली।

खुलने लगे रहस्य प्रकृति के,
गाने लगा मनुज गुन-गुन;
पत्थर या पत्तों पर लिखने लगा
भाव मन के चुन-चुन।

बहुत दिनों तक रहा हाल यह,
तब छापे की कल आई,
मरे हुए पण्डित, कवि, कोविद
ने जिन्दगी नई पाई।

ग्रन्थों के पन्ने-पन्ने में
देखो, बोल रहे हैं वे,
चुप हैं, लेकिन, भेद प्रकृति का
कैसा खोल रहे हैं वे।

देह नहीं उनको है, लेकिन,
दुनिया उनसे डरती है,
उनसे पूछे बिना काम कोई न
बड़ा वह करती है।

और तमाशा यह तो देखो,
व्यास अभी तक गाते हैं,
जीवित हैं मनु बुद्ध, जगत को
जीवन-धर्म सिखाते हैं।

कालिदास, श्रीहर्ष, बाण,
कोई भी नहीं मरे अब तक;
खुद राजा दुष्यन्त तपोवन में
हैं कहीं खड़े अब तक।

औ' देखो अब तक कबीरजी
कपड़े बुनते जाते हैं,
लरछे पर है हाथ, मगर,
मन से हरि का गुण गाते हैं।

सूरदास जी की आँखों से
अश्रु अभी तक जारी है,
गोपीगण से पूछ रहे हैं,
'मेरा कहाँ मुरारी है'।

'रामायण' के पृष्ठ-पृष्ठ पर
तुलसी पुण्य बिखेर रहे;
रो-रो 'विनय' सुना अपने
दशरथ-किशोर को टेर रहे।

मुकुट कहीं जगमग राजा का,
कहीं सुकवि का सुयश हरा;
सूखी लकड़ी के छोटे घर में
कितना सामान भरा!

जग पर छाप छोड़ने वाले
पण्डित, कवि, कोविद, ज्ञानी,
शूर, वीर, सम्राट्, साधु नर,
असुर, नराधम, अभिमानी।

मरण-कूप से उठ-उठ कर ये
सभी यहाँ पर आते हैं,
पहले जो कुछ खेल किया था,
अब उसको दुहराते हैं।

सरस्वती के न्याय-भवन में
अभिनय जाँचा जाता है,
पटाक्षेप के बाद राय अपनी
इतिहास सुनाता है।

कहता है इतिहास, "अमुक का
नाम लिखो कवि, सोने से,
मस्तक ऊँचा हुआ मनुज का
जिसके पैदा होने से।

"और अमुक नर पर थूकेंगी
सन्ततियाँ आनेवाली,
तुच्छ स्वार्थ-हित बेच देश भर
की जिसने इज्जत डाली।"

राजा से आसन उठता है
ऊँचा कभी फकीरों का,
मुकुटों से भी कभी मान,
बढ़ जाता है जंजीरों का।

देता है इतिहास स्वर्ग जिनको,
वे पूजे जाते हैं,
युग-युग तक साहित्य बीच
उनके गुण गाये जाते हैं।

किन्तु, दण्डभोगी जयचन्दों
को नरकाग्नि जलाती है,
पीढ़ी पर पीढ़ी आ-आ कर
उन्हें थूकती जाती है।

इस जादू-घर-बीच मिलेंगे
बड़े-बड़े संदेश तुम्हें,
जाओ, हैं मुन्तज़िर विज्ञ जन
देने को उपदेश तुम्हें।

—:※:—

कलम और तलवार

दो में से क्या तुम्हें चाहिए, कलम या कि तलवार ?
मन में ऊँचे भाव कि तन में शक्ति अजेय, अपार ?
अन्ध कक्ष में बैठ रचोगे ऊँचे, मीठे गान ?
या तलवार पकड़ जीतोगे बाहर जा मैदान ?

जला ज्ञान का दीप सिर्फ फैलाओगे उजियाली ?
अथवा उठा कृपाण करोगे घर की भी रखवाली ?

कलम देश की बड़ी शक्ति है भाव जगानेवाली,
दिल ही नहीं दिमागों में भी आग लगानेवाली।
पैदा करती कलम विचारों के जलते अंगारे,
और प्रज्वलित-प्राण देश क्या कभी मरेगा मारे ?

लहू गर्म रखने को रक्खो मन में ज्वलित विचार,
हिंस्र जीव से बचने को चाहिए किन्तु, तलवार।

एक भेद है और, जहाँ निर्भय होते नर-नारी,
कलम उगलती आग, जहाँ अक्षर बनते चिनगारी।
जहाँ मनुष्यों के भीतर हरदम जलते हैं शोले,
बाँहों में बिजली होती, होते दिमाग में गोले।

जहाँ लोग पालते लहू में हालाहल की धार,
क्या चिन्ता यदि वहाँ हाथ में हुई नहीं तलवार ?